

जैन दर्शनमें नैतिक आदर्शके विभिन्न रूप

डॉ० कमलचन्द सौगानी

जैन दर्शन भारतका एक महत्वपूर्ण दर्शन है। इसने मनुष्यके सर्वतोमुखी कल्याणके लिए गहन चिन्तन प्रस्तुत किया है। नैतिकताके बिना मनुष्य जीवन सामाजिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे निरर्थक होता है, और नैतिक जीवन बिना नैतिक आदर्शके संभव नहीं हो सकता। जैन आचार्योंने इस रहस्यको समझा और इस जगत्के बाह्य परिवर्तनशील रूपोंसे प्रभावित न होकर आत्माके अंतरंग छिपे हुए शक्ति-स्रोतोंका अनुभव कर नैतिक आदर्शके विभिन्न रूप हमारे सामने प्रस्तुत किये, यद्यपि ये सब आदर्श मूल रूपसे एक ही हैं केवल मात्र अभिव्यक्तिका अंतर है।

प्रथम, जैन आचार्योंने कर्मोंसे मुक्त होनेको उच्चतम आदर्श घोषित किया है। उनके अनुसार प्रत्येक मानवको कर्म-बंधनोंसे मुक्त होनेके लिए कठोर परिश्रम करना चाहिए, जिससे वह सांसारिक सुख-दुःखके चक्करसे मुक्त हो सके। सूत्रकृतांगके अनुसार मोक्ष अर्थात् आत्म स्वातन्त्र्य सर्वोत्तम वस्तु है जिस प्रकार चन्द्रमा तारोंमें सर्वोत्तम^१ है। आचारांगके कथनानुसार वह जीव जो आत्म समाहित है वह ही अपने कर्मोंको नष्ट कर सकता^२ है। आत्मसमाहित होना ही आत्म स्वातन्त्र्यकी प्राप्ति है। इस अवस्थामें सांसारिक जीव आत्मानुभवकी एक ऐसी ऊँचाईपर स्थित हो जाता है जहाँ वह सुख-दुःख, निन्दा-प्रशंसा, शत्रु-मित्र आदि द्वन्द्वोंसे प्रभावित नहीं होता।^३ यही वास्तविक आत्म स्वातन्त्र्य है। इस अवस्थाको ही अर्हत् अवस्था कहते हैं। अर्हत् पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सारी दिशाओंमें सत्यमें प्रतिष्ठित होते^४ हैं। लौकिक जन सुखकी तृष्णाके वशीभूत होकर दिनमें श्रम करते हैं और रातमें सो जाते हैं। परन्तु अर्हत् रात दिन प्रमाद रहित होकर विशुद्धिके मार्गमें जागते ही रहते^५ हैं। जिस प्रकार माता अपने बालकको हितकी शिक्षा देती है और चतुर वैद्य रोगियोंको निरोग बनानेका पूर्ण प्रयत्न करता है, उसी प्रकार अर्हत् सांसारिक रोगोंसे पीड़ित जन समूहको हितका उपदेश देते^६ हैं। इस तरहसे वे जन समुदायका नेतृत्व करते^७ हैं। उनका सारा जीवन लोक कल्याणके लिए ही होता है। अतः स्पष्ट है कि आत्म स्वातन्त्र्यकी प्राप्तिके पश्चात् ही पूर्ण लोक-कल्याण संभव होता है।

द्वितीय, आचार्य कुन्दकुन्दके अनुसार बहिरात्माको छोड़कर अन्तरात्माके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति

१. सूत्रकृतांग १, ११, २२।
२. आचारांग १, २, २।
३. प्रवचनसार ३-४१।
४. आचारांग १, ४, २९।
५. स्वयंभूस्तोत्र ४८।
६. स्वयंभूस्तोत्र ११, ३५।
७. स्वयंभूस्तोत्र ३५।

२६४ : अगरचन्द नाहटा अभिनन्दन-ग्रन्थ

उच्च मतआदर्श^१ है। ये तीनों आत्माकी अवस्थाएँ हैं जहाँ जीव विभिन्न भूमिकाओंपर स्थित होता है। बहिरात्मा आत्म-ज्ञानसे पराङ्मुख होता है। और शरीरादिमें ही आत्म-तत्त्वका अध्यवसाय करता रहता है तथा कर्मण शरीर रूपी काँचलीसे ढके हुए ज्ञान रूपी शरीरको नहीं पहचानता^२। इसका परिणाम यह होता है कि मित्रादिकोंके वियोगकी आशंका करता हुआ अपने मरणसे अत्यन्त डरता रहता^३ है। बहिरात्मा कठोर तप करके भी अपने लक्ष्यको प्राप्त नहीं कर सकता^४। यद्यपि पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो आत्माका भला करनेवाला हो तथापि यह अज्ञानी बहिरात्मा अज्ञानके वशीभूत होकर इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त रहता है और तप करके सुन्दर शरीर और उत्तमोत्तम स्वर्गके विषय भोगोंकी इच्छा करता^५ है। उपर्युक्त कारणोंसे बहिरात्मावस्था उच्चतम आदर्शकी प्राप्तिमें बाधक है अतः त्याज्य है। इसके विपरीत अन्तरात्मा आत्मा और शरीरमें विवेक बुद्धि उत्पन्न करता है। अतः शरीरके विनाशको तथा उसकी विभिन्न अवस्थाओंको आत्मासे भिन्न मानता है और मरणके अवसरपर एक वस्त्रको छोड़कर दूसरा वस्त्र ग्रहण करनेकी तरह निर्भय रहता^६ है। इसका परिणाम यह होता है कि वह आत्माको ही निवास स्थान मानता^७ है। अन्तरात्म वृत्तिके कारण ही आत्मा अपने आदर्शकी ओर बढ़नेमें समर्थ होता है। परमात्मा सम्पूर्ण दोषोंसे रहित और केवल-ज्ञानादि परम वैभवसे संयुक्त होता^८ है। वह जन्म, जरा, मरण रहित अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख आदिका अनुभव करनेवाला तथा अविनाशी होता है। परमात्म अवस्था ही निर्वाण अवस्था है, जहाँ न दुःख है न सुख, न पीड़ा न बाधा, न निद्रा न क्षुधा, न पुण्य न पाप^९। वह तो अतीन्द्रिय, अनुपम, नित्य अचल और निरालम्ब अवस्था^{१०} है।

तृतीय; अशुभ और शुभ उपयोगको छोड़कर शुद्धोपयोगकी प्राप्तिको उच्चतम आदर्श स्वीकार किया गया है। जब जीव नैतिक और आध्यात्मिक क्रियाओंमें रत रहता है तो शुभोपयोगी होता है किन्तु जब वह हिंसादि अशुभ कार्योंमें रत रहता है तो वह अशुभोपयोगी कहा जाता है। ये दोनों उपयोग कर्मके कारण जीवमें उत्पन्न होते हैं और ये जीवको अनन्त संसारमें परिभ्रमण कराते रहते हैं। अतः ये उपयोग मनुष्य जीवनके आदर्श नहीं बन सकते। जब तक जीव अपनी शक्तिको इन दोनों उपयोगोंमें लगाता रहता है तब तक वह अपने आदर्शसे कोसों दूर रहता है। परन्तु ज्योंही इन दोनों उपयोगोंको जीव त्यागता है त्योंही वह शुद्धोपयोग ग्रहण कर लेता है। दूसरे शब्दोंमें इस प्रकार कहा जा सकता है कि जैसे ही शुद्धोपयोगका अनुभव हुआ, वैसे ही जीवसे अशुभ और शुभ उपयोग विदा हो जाते हैं। वह शुद्धोपयोगी जीव एक ऐसे

-
१. मोक्ष पाहुड ४, ७।
 २. समाधिशतक ७१, ६८।
 ३. वही ७६।
 ४. वही ४१।
 ५. वही ४२, ५५।
 ६. वही ७७।
 ७. वही ७३।
 ८. नियमसार ७।
 ९. नियमसार १७९, १८०।
 १०. नियमसार १७८।

सुखका अनुभव करता है जो आत्मोत्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनन्त और अविच्छिन्न^१ है। वह सारे लोकमें किसीके द्वारा न छिन्न होता है, न भिन्न, न दग्ध होता है और न निहत। उसने राग और द्वेष रूपी दोनों अंतोंको छोड़ दिया^२ है।

चतुर्थ, जैनाचार्योंने पंडित-पंडित-मरणको उच्चतम आदर्श घोषित किया है। इसका अभिप्राय यह है कि जीव पंडित-मरण, बाल-पंडित-मरण, बाल-मरण और बाल-बाल-मरणको पण्डित-पण्डित मरण रूपी आदर्शकी प्राप्तिमें बाधक समझें^३। जो जीव मिथ्या दृष्टिवाले होते हैं उनका मरण बाल-बालमरण कहलाता है। ऐसे जीव पूर्णतया आत्मविमुख होते हैं। जिन जीवोंमें सम्यक् दृष्टि उत्पन्न हो चुकी है अर्थात् जो जीव आत्म-रश्चिवाले हैं उनका मरण बाल-मरण कहलाता^४ है। जिन जीवोंने आत्मरश्चिके साथ पञ्चाणुव्रतोंको धारण कर लिया है उनका मरण बाल-पण्डित-मरण कहलाता है। किन्तु जिन्होंने पञ्च महाव्रतोंको धारण किया है उनका मरण पण्डित-पण्डित-मरण अलौकिक है। इसे ही विदेह मुक्ति कहते हैं।

पंचम, परादृष्टिकी प्राप्तिको भी उच्चतम ध्येय स्वीकार किया गया है। आचार्य हरिभद्रने अपने ग्रन्थ योगदृष्टिसमुच्चयमें इसका सूक्ष्म विवेचन किया है। उनके अनुसार आठ दृष्टियाँ—मित्रा, तारा, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा—योग दृष्टियाँ कहलाती^५ हैं। हरिभद्रने इन दृष्टियोंकी तुलना क्रमशः तृणानि, गोमयाग्नि, काष्ठानि, दीपक, रत्न, तारा, सूर्य और चन्द्रमाके प्रकाशोंसे की है। मित्रा दृष्टिका प्रकाश न्यूनतम और परादृष्टिका प्रकाश उच्चतम होता^६ है। प्रथम चार दृष्टियोंको प्राप्त करनेके पश्चात् भी साधक अपनी प्रारम्भिक भूमिका पर लौट सकता है। अतः ये दृष्टियाँ अस्थिर हैं। किन्तु पाँचवीं स्थिरा दृष्टि प्राप्त करनेके पश्चात् साधकका अपनी आध्यात्मिक भूमिकासे नीचे गिरना असम्भव है। अतः अन्तिम चार दृष्टियाँ स्थिर हैं। और साधक इनमें शनैः शनैः उच्चतम ध्येय की ओर अग्रसर होता चला जाता है। मित्रा दृष्टिका प्रकाश अतिमन्द होता है और साधकको शुभ कार्य करते जरा भी खेद नहीं होता। तारा दृष्टिमें तत्त्व ज्ञानकी जिज्ञासा उत्पन्न होती है। बला दृष्टिमें तत्त्व श्रवणकी उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है। दीप्रा दृष्टिमें यद्यपि सूक्ष्म बोधका अभाव होता है तथापि साधक प्राणार्पण करके भी सदाचरणकी रक्षा करता है। स्थिरा दृष्टिमें रत्नप्रभाके समान सूक्ष्म बोध उत्पन्न हो जाता है और साधक मिथ्यात्वकी ग्रन्थिका भेदन कर देता है। उसे बाहरी पदार्थ मायाके रूपमें दिखाई देते हैं। उसमें पूर्ण आत्मरश्चि उत्पन्न हो जाती है। कान्ता दृष्टिमें साधक चित्तकी चंचलताको कम करता है जिससे मन अपने लक्ष्यकी ओर स्थिर किया जा सके। जैसे तारा एक-सा प्रकाश देता है वैसे ही इस दृष्टिवाले प्राणीका बोध एक-सा स्पष्ट एवं स्थिर होता^७ है। प्रभा दृष्टिमें ध्यान उच्चकोटिका होता जाता है। इसमें बोध सूर्यकी प्रभाके समान होता है जो लम्बे समय तक अति स्पष्ट रहता है। इसके पश्चात् परादृष्टिकी प्राप्ति होती है जो अन्तिम और उच्चतम है।

१. प्रवचनसार १३।

आचारांग १, ५, ७३।

२. आचारांग १, ३, ४८।

३. भगवती आराधना २५।

४. वही ३०।

५. योगदृष्टि समुच्चय १३।

६. वही, १५।

७. जैन आचार पृ० ४६, द्वारा डॉ० मोहनलाल मेहता।

२६६ : अगरचन्द नाहटा अभिनन्दन-ग्रन्थ

इसमें साधक पूर्ण कर्म दोषोंसे मुक्त हो जाता है और केवलज्ञानी संज्ञाको प्राप्त होता है। इसमें बोध चन्द्रमा-
के प्रकाशके समान शान्त और स्थिर होता है। यही मोक्ष है और परम आनन्दकी अवस्था है।

षष्ठ, नैतिक आदर्शकी अभिव्यक्ति पूर्ण अहिंसाकी प्राप्तिमें भी होती है। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक
न होगा कि जैन साधनामें अहिंसा प्रारम्भ और अन्त है। समन्तभद्रने इसे परब्रह्मकी संज्ञा दी है^१। सूत्र-
कृतांगमें अहिंसाको निर्वाणका पर्यायवाची माना है^२। आचारांगमें कहा गया है कि न जीवोंको हनन करना
चाहिए, न उन्हें पीड़ित करना चाहिए, न उनपर बलपूर्वक शासन करना चाहिए, न उन्हें दास बनानेके लिए
आधीन करना चाहिए। यही धर्म ध्रुव है, नित्य है और शाश्वत^३ है। अहिंसाकी दृष्टिमें प्राणी मात्र आत्म-
तुल्य है।.....हे पुरुष, जिसे तू मारनेकी इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही सुख-दुःखका अनुभव
करनेवाला प्राणी है; जिसपर हुकूमत करनेकी इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है, जिसे
दुख देनेका विचार करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है, जिसे अपने वशमें करनेकी इच्छा करता
है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है, जिसके प्राण लेनेकी इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही
प्राणी^४ है।.....इस विवेचनको हम अहिंसाका व्यवहार दृष्टिकोणसे वर्णन कह सकते हैं। परन्तु निश्चय दृष्टि-
कोणसे आत्मामें किसी भी प्रकारकी कषाय उत्पन्न होना हिंसा है और उन कषायोंका न होना वास्तविक
अहिंसा है^५। पूर्ण अहिंसाकी प्राप्ति उच्चतम स्थिति है और साधककी अन्तिम अवस्था है।

सप्तम, ज्ञान चेतनाकी प्राप्ति साधकका अन्तिम ध्येय है। यह ज्ञान चेतना कर्म चेतना और कर्म फल
चेतनासे अत्यन्त भिन्न^६ है। कर्म चेतनासे अभिप्राय है—शुभ, अशुभ भावोंमें चेतनाको स्थापित करना और
कर्मफल चेतनासे अभिप्राय है—चेतनाको सुख, दुःख रूप स्वीकार करना। चेतनाको शुभ अशुभ रूप क्रियाओं
तथा सुख दुःख रूप भावोंसे नितान्त भिन्न अनुभव करना ज्ञान चेतना^७ है। कर्म चेतना और कर्मफल चेतना
ये दोनों ही अज्ञान अवस्थाके परिणाम हैं। अतः ज्ञान चेतनाकी प्राप्तिके लिए इन दोनोंसे विमुख होना
अत्यन्त आवश्यक है। सर्व स्थावर जीव-समूह सुख दुःख रूप कर्मफलका ही अनुभव करते हैं और दो इन्द्रियों-
से पंचेन्द्रियों तक जीव कार्य सहित कर्मफलको वेदते हैं। किन्तु जो जीव इन दोनों प्रकारके अनुभवोंसे अतीत
हैं वे ही ज्ञान-चेतनाका अनुभव करते^८ हैं। यह ही अन्तिम अवस्था है, अन्तिम आदर्श है।

इस तरहसे हम देखते हैं कि आत्मस्वातन्त्र्य और परमात्माकी प्राप्ति, शुद्धोपयोग और अहिंसाकी
उपलब्धि, पण्डित पण्डित-मरण, परादृष्टि और ज्ञान चेतनाकी अनुभूति—ये सब ही नैतिक आदर्श भिन्न-
भिन्न प्रतीत होते हुए भी मूलभूत रूपसे एक ही हैं।

१. स्वयंभूस्तोत्र, ११७।
२. सूत्रकृतांग, १. ११. ११।
३. आचारांग, १. ४. १।
४. अहिंसा तत्त्व दर्शन द्वारा मुनि नथमल पृ० १८।
५. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ४४।
६. पंचास्तिकाय ३८।
७. प्रवचनसार—१२४।
८. पंचास्तिकाय ३९।